प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त का मनोवैज्ञानिक पक्ष

आचार्य श्री कनकनंदी जी

अपराध निराकरण हेतु किया गया अनुष्ठान प्रायश्चित्त है। दिगम्बराचार्य श्री कनकनन्दी जी महाराज ने प्रायश्चित्त के धार्मिक पहलू के साथ मनोवैज्ञानिक पहलू पर भी प्रकाश डाला है। लेख में प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त के द्वारा मानसिक और शारीरिक रोगों को दूर करने के उपाय उदाहरण सहित दिये गये हैं। प्रायश्चित्त के दस भेदों के माध्यम से की गई प्रतिक्रमण की विस्तृत मनोवैज्ञानिक व्याख्या पाठकों के लिए ग्रहणीय है। *-सम्पादक*

षट्खण्डागम में प्रतिपादित है कि अपराध करने वाला साधु संवेग और निर्वेद से युक्त होकर अपने अपराध का निराकरण करने के लिए जो अनुष्ठान करता है, वह प्रायश्चित्त नाम का तप कर्म है।[1] इस विषय में एक श्लोक इस प्रकार कहा गया है -

प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत्।
तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्।। -धवला टीका

'प्रायः' पद लोकवाची है अर्थात् व्यक्ति का बोधक है। और 'चित्त' से अभिप्राय उसका मन है। इसलिए उस चित्त की शुद्धि को करने वाला कर्म प्रायश्चित्त है, ऐसा समझना चाहिए।

जब एक मनुष्य से किसी प्रकार का दोष हो जाता है तो उस दोष के कारण उसकी अन्तरात्मा मलिन, दूषित और अपवित्र हो जाती है। अन्तरात्मा के दूषित होने के साथ-साथ अन्य लोग भी उसके प्रति मलिन एवं अपवित्र मनोभाव को धारण करते हैं। इस प्रकार दोषी अन्तर्लोक (आत्मा) और बहिर्लोक (बाह्य जनसाधारण) में दूषित माना जाता है। जब तक वह दोषी अपना दोष परिमार्जन नहीं करता है तब तक वह दोनों तरफ से मलिन होकर पतित हो जाता है। इससे उसके धैर्य, साहस, आत्मगौरव आदि का नाश होने से आध्यात्मिक शक्ति क्षीण हो जाती है। उपर्युक्त दोष से अपना उद्धार करने के लिए वह दोषी यथायोग्य स्वसाक्षी, गुरुसाक्षी, परसाक्ष्य पूर्वक दोषानुकूल प्रायश्चित्त लेकर आत्मविशुद्धि करता है। आत्मविशुद्धि के अनन्तर अंतरात्मा निर्मल या पवित्र हो जाने से उसका धैर्य, साहस, वीर्य, आत्मगौरव वृद्धिंगत होता है जिससे उसकी आध्यात्मिक शक्ति स्वतः वृद्धि को प्राप्त होती है। दोष स्वीकार करके, दोषपरिमार्जन करने से साधारण लोग भी उसकी प्रामाणिकता से प्रेरित होकर पहले जो उसके प्रति दोषजनित दूषित भाव मन में था उसको निकाल फेंकते हैं। इस प्रकार प्रायश्चित्त से स्वशुद्धि के साथ-साथ लोगों की चित्तशुद्धि भी हो जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुद्धिकारक होने से प्रायश्चित्त 'तप' कहलाता है।

प्रायश्चित्त के १० भेद

यह प्रायश्चित्त आभ्यन्तर तप का एक भेद है। प्रायश्चित्त १. आलोचना २. प्रतिक्रमण ३. उभय ४. विवेक ५. व्युत्सर्ग ६. तप ७. छेद ८. मूल ९. परिहार १०. श्रद्धान के भेद से दस प्रकार का है।[2] इस विषय में प्रसिद्ध गाथा है-

आलोयण पडिकमणे उभय-विवेगे तहा विउस्सग्गो।
तवछेदो मूलं पि य परिहारो चेव सद्दहणा।।१।।

इन दस भेदों का संक्षेप में वर्णन करने के साथ प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त का मनोवैज्ञानिक पक्ष प्रस्तुत किया गया है-

(१)आलोचना (स्वदोष प्रकाशन) प्रायश्चित्त- अपरिस्राव अर्थात् आस्रव से रहित, श्रुत के रहस्य को जानने वाले, वीतराग और रत्नत्रय में मेरु के समान स्थिर ऐसे गुरुओं के सामने अपने दोषों का निवेदन करना आलोचना नामक प्रायश्चित्त है।[3]

(२) प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त- गुरुओं के सामने आलोचना किये बिना संवेग और निर्वेद से युक्त साधु का 'फिर से कभी ऐसा न करूँगा' यह कहकर अपराध से निवृत्त होना प्रतिक्रमण नाम का प्रायश्चित्त है।[4]

शंका- यह प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त कहाँ पर होता है?

समाधान- जब अपराध छोटा सा हो और गुरु समीप न हो, तब यह प्रायश्चित्त होता है।[5]

विश्व एवं काल अनादि है। इसलिए जीव भी अनादिकाल से है। जीव के अनादिकाल से होने से कर्मबंध भी अनादिकालीन है। जीव में भी अनन्त शक्ति है एवं जीव को बाँधने वाले कर्म में भी अनंत शक्ति है, क्योंकि यदि कर्म में अनंत शक्ति नहीं होती है तो अनंत शक्ति संपन्न जीव को कर्म बाँध नहीं सकता है। अनादि काल से कर्म में बँधा हुआ, कर्म से रचा हुआ एवं कर्म से संस्कारित जीव पर कर्म का अनुशासन अनादिकाल से चला आ रहा है। उस कर्म की प्रेरणा शक्ति इतनी तीव्र है कि वह कभी-कभी भेदविज्ञान-सम्पन्न आत्मसाधक महासत्त्व वाले अंतरात्मा मुनि को भी पदस्खलित, पथचलित कर देती है। महान् तत्त्ववेत्ता दार्शनिक संत पूज्यपाद स्वामी ने इस अभिप्राय को लेकर कहा है-

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रांतिं भूयोऽपि गच्छति।। -समाधितंत्र, ४५

अंतरात्मा आत्मतत्त्व को जानती हुई भी तथा शरीर से भिन्न आत्मा की भावना करती हुई भी, मानती हुई भी पुराने बहिरात्मावस्था के मिथ्यासंस्कार से शरीर को आत्मा समझ लेने के भ्रम को कर बैठती है।

आत्मसाधक अनिच्छापूर्वक कर्म की तीव्र शक्ति से घात-प्रतिघात को प्राप्त करके कदाचित्,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथंचित् स्वलक्ष्य मार्ग से स्खलित होने पर प्रमादी होकर नीचे पड़ा नहीं रहता है। वह पुनः नवचेतना, नवस्फूर्ति, नवशक्ति लेकर खड़ा हो जाता है। वह अपना पश्चात्ताप स्वसाक्षी, परसाक्षी पूर्वक करता हुआ दोष का परिमार्जन करता है। त्रुटि होने पर त्रुटि को स्वीकार करना, पुनः त्रुटि नहीं होवे तदनुकूल सतत पुरुषार्थ करना प्रतिक्रमण एवं प्रायश्चित्त है। इससे साधक की सरलता व आत्मविशुद्धि की भावना स्पष्ट व्यंजित होती है एवं पुष्ट होती है। आत्मा की दुर्बलता नष्ट होती है एवं आत्मा दृढ़ हो जाती है। मनुष्य में उन्नति करने की जितनी प्रणालियाँ हैं उनमें सर्वप्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है स्व-दोष स्वीकार करना, परिमार्जन करना एवं उस दोष को आगे नहीं होने देना। प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदि से उसकी प्रामाणिकता अधिक से अधिक निखर उठती है। आत्मविश्वास के साथ-साथ यह लोक विश्वास का भी सम्पादन करता है।

वर्तमान मनोवैज्ञानिक चिकित्सक भी अनेक मानसिक एवं शारीरिक रोगों की चिकित्सा प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त, स्वदोष-स्वीकार करना आदि विधि से करते हैं। अनेक मानसिक एवं शारीरिक रोग तनाव से उत्पन्न होते हैं। तनाव का मूल कारण असत् आचरण, अनैतिक आचार-विचार, दूसरों के प्रति ईर्ष्या, घृणा, द्वेष के साथ प्रगट एवं अप्रगट रूप में दोषयुक्त कार्य करना है। उपर्युक्त कारण से मन में, अन्तश्चेतना में, अवचेतन मन में एक प्रकार का मानसिक असंतुलन व विक्षोभ उत्पन्न होकर कुण्ठित मानसिकता की एवं विकृत भावनाओं की ग्रंथि पड़ जाती है। ये ग्रंथियाँ ही शारीरिक एवं मानसिक रोगों का कारण बन जाती हैं। जब तक आत्म-निरीक्षण, स्वदोष स्वीकार, आत्म-विश्लेषण, पश्चात्ताप, निंदा, गर्हा नहीं की जाती है तब तक मानसिक तनाव भावनात्मक ग्रंथियाँ, मानसिक एवं शारीरिक रोग विभिन्न भौतिक एवं शारीरिक चिकित्सा से दूर नहीं हो सकते हैं। निन्दा, गर्हा, पश्चात्ताप आदि के बिना इनका पूरा इलाज नहीं हो सकता। इसका विशेष वर्णन मेरे द्वारा लिखित 'धर्म एवं स्वास्थ्य विज्ञान' के मनोवैज्ञानिक चिकित्साप्रकरण में किया गया है। इसी प्रकार प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदि का आचरण स्वकृत दोष निवारण के साथ-साथ दूसरों के विश्वास भाजन बनने एवं शारीरिक-मानसिक रोग-निवारण के लिए अमोघ उपाय है।

यदि किसी पुरुष के शरीर में काँटा लग गया और वह उससे बहुत कष्ट पा रहा है तो जब तक वह काँटा उसके शरीर से नहीं निकलेगा तब तक वह सुखी नहीं हो सकता है। उस काँटे को निकालकर जैसे वह पुरुष सुखी होता है, उसी तरह आत्म-हितैषी व्यक्ति वीतरागी साधुओं की शरण लेकर अपनी आत्मा को कष्ट पहुँचाने वाले पापकर्म रूपी काँटे को आलोचना द्वारा निकाल फेंकते हैं और वे फिर कभी नाश न होने वाली आत्मिक लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं।

भाव परिष्कार : सही उपचार (उदाहरण १)- एक स्त्री अपने पति के कटु-व्यवहार से अत्यन्त दुःखी थी। इस दुःख के कारण उस स्त्री की मृत्यु हो गयी। इससे पति को बहुत बड़ा मानसिक (आघात) धक्का लगा, जिससे वह क्षयरोग से ग्रस्त हो गया। मनोवैज्ञानिक परीक्षण हुआ। परीक्षण से पता चला कि इस रोग का कारण शारीरिक न होकर मानसिक है और मानसिक कारण है आत्मग्लानि। डाक्टरों ने योग्य मानसिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिकित्सालय में उसको भेज दिया। मानसिक चिकित्सा से कुछ ही दिनों में वह क्षयरोग से मुक्त हो गया।

'प्रायश्चित्त' एक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा विधि (उदाहरण २)- एक बहुत बड़े मनोवैज्ञानिक चिकित्सक 'डॉ. कलेरे संलीव' जब सिरदर्द, अनिद्रा, हाइपर एसिडिटी आदि रोग से ग्रस्त व्याधि के कारण का शारीरिक दृष्टिकोण से शोध कर न सके तब उन्होंने आत्मीय एवं प्रेमभाव से रोगी को कहा- ''बेटे, सच बताओ, तुम्हारे मन में क्या दबा हुआ है? तुम्हारें अन्तरंग की बात बताने पर ही संभव है कि मैं रोग का सही-सही निदान एवं उपचार कर सकूँ।''

तब रोगी बोला- ''मेरा एक भाई विदेश में रहता है उसे धोखा देने का पाप मेरे मन में आ गया। फलतः मैं पैतृक सम्पत्ति में जो मेरे भाई का हिस्सा है, उसे हड़पने के षड्यंत्र में (जालसाजी) संलग्न हूँ।'' डॉ. संलीव ने रोग का वैज्ञानिक कारण खोज निकाला। डॉक्टर ने रोगी को नीरोग हो जाने का आश्वासन दिया। उससे भाई के नाम एक पत्र लिखवाया। उस पत्र में रोगी ने अपने कृत कारनामों को स्पष्ट स्वीकार किया और उस त्रुटि के लिए भाई से क्षमा माँगी। डॉक्टर ने प्रायश्चित्त के स्वरूप उससे हड़पने की राशि का चेक लिखवाया और लेटर बॉक्स तक रोगी के साथ जाकर पत्र पेटी में डलवा दिया। पत्र डालते ही रोगी फूट-फूटकर रोने लगा। उसने कहा कि धन्यवाद डॉ. साहब! अब मेरी सभी बीमारियाँ दूर हो गयी हैं। तब से वह रोगी सम्पूर्ण रूप से नीरोगी हो गया।

धार्मिक दृष्टिकोण से इसी को प्रायश्चित्त कहते हैं। प्रायश्चित्त विधि प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय में है, विशेष करके जैन धर्म में। प्रातःकाल एवं संध्या के समय प्रायश्चित्त लेने का विधान है। रात्रि में किये गये ज्ञात, अज्ञात या प्रमादवशतः निम्नश्रेणीय कीटपतंग से लेकर उच्च स्तरीय मानव तक किसी के भी प्रति किसी भी प्रकार मन, वचन, काया से अपराध होने पर परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से स्व-साक्षी अथवा परसाक्षी पूर्वक क्षमायाचना पूर्वक प्रायश्चित्त प्रातःकाल लेते हैं। इसी प्रकार दैवसिक अपराध के लिए संध्या के समय प्रायश्चित्त लेते हैं। जैनों के प्रतिक्रमण में आद्य पाठ निम्न प्रकार है-

जीवे प्रमादजनिताः प्रचुरा प्रदोषाः।
यस्मात् प्रतिक्रमणतः प्रलयं प्रयान्ति।। -प्रतिक्रमण पाठ

प्रमाद (असावधानी) वशतः जीवों के प्रति प्रचुर रूप से जो दोष होते हैं, वे दोष प्रतिक्रमण के माध्यम से नष्ट हो जाते हैं। प्रतिक्रमण का अर्थ है- कृत दोष को स्वीकार करना। अन्यायपूर्ण अनुचित, अनैतिक, अधार्मिक कार्य करते ही किसी व्यक्ति की अन्तश्चेतना जान लेती है कि कुछ विपरीत व अप्राकृतिक कार्य हुआ है। इससे मानसिक शांति व संतुलन बिगड़ जाता है, जिससे शरीर का नाडीतंत्र व ग्रंथितंत्र प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। फलतः मानसिक अस्वस्थता हो जाती है। उस मानसिक अस्वस्थता के कारण शरीर भी अस्वस्थ हो जाता है और जब तक भूल का सुधार नहीं हो जाता तब तक यह मानसिक और शारीरिक अस्वस्थता बनी रहती है। भूल का सुधार होते ही रोगी स्वस्थ हो जाता है। पहले धर्मात्मा लोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोष होने के बाद इसीलिए क्षमायाचना करते थे।

खम्मामि सव्व जीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।

मित्ती मे सव्व भूएसु वेरं मज्झं ण केणवि।। -प्रतिक्रमण पाठ

मैं सहृदय, सम्पूर्ण जीव-जगत् को क्षमा करता हूँ, सर्व जीव-जगत् मुझे भी क्षमा करे। सम्पूर्ण जीवों के प्रति मेरी मैत्री भावना है अर्थात् सम्पूर्ण जीव मेरे मित्र के समान हैं। किसी के भी प्रति मेरा वैर भाव नहीं है। उदाहरण ३- न्यूजीलैंड के डॉ. नारमन वीसेर पील एक चिकित्सक, मनावैज्ञानिक और न्यूजमी चर्च के प्रवक्ता हैं। एक युवती ने डॉ. साहब से कहा- चर्च में आते ही मेरे शरीर में बुरी तरह से खुजली चलने लगती है और शरीर में लाल चकते हो जाते हैं। यदि यही हालत रही तो मुझे चर्च में आना छोड़ना पड़ेगा।

अन्तर्मन की पर्तों को कुरेदने से (जाँच करने पर) डॉ. साहब ने पाया कि यह 'इण्टरनल एग्जिमा' से पीड़ित है। इसका कारण शारीरिक और बाह्य नहीं है, इसका मानसिक एवं अन्तरंग कारण है। 'इमोशनल टेन्सन' भावात्मक तनाव के कारण इस प्रकार हुआ है। जब डॉ. ने युवती से पूछा तब युवती बोली- मैं एक बड़ी कम्पनी में एकाउण्टेन्ट का काम कर रही थी, उस अवधि में मैं गोल-माल करके थोड़ा धन चुराया करती थी। हर बार सोचती थी कि चुराई हुई रकम वापिस कर दूँगी, लेकिन मैं ऐसा नहीं कर सकी। ऐसा कहकर वह फफक-फफक कर रोने लगी। तब डॉ. बोले- तुम्हारे मन में अपराध की भावना घर कर गयी है, जब चर्च के पवित्र वातावरण में आती हो तब उसमें तीव्रता आ जाती है। यह रोग भावना क्षोभजनित है। इससे छूटने का एक ही उपाय है- मालिक के सामने अपना अपराध स्वीकार कर लेना। तुम जाओ, मालिक के सामने अपना अपराध स्वीकार करो। इससे संभवतः तुम्हें मालिक कार्य से निकाल भी सकता है। युवती वहाँ से मालिक के पास गई तथा पदवी को नहीं चाहते हुए समस्त वृत्तान्त स्पष्ट रूप से मालिक से कहकर क्षमा माँगी तब से उसका एग्जिमा रोग समाप्त हो गया तथा उसकी पदोन्नति हो गयी।

भय से अतिसार रोग हो जाता है, चिंता से अपस्मार रोग होता है, रक्तचाप बढ़ जाता है, तीव्र ईर्ष्या और घृणा से अल्सर रोग हो जाता है, आत्मग्लानि से क्षयरोग (टी.बी.) हो जाता है, अति स्त्री-संभोग से टी.बी., कुष्ठ रोग, नपुंसकता आदि रोग हो जाते हैं। चिंता, क्रोध, घृणाभाव आदि से मानसिक विकृतियाँ हो जाती हैं जिससे मनुष्य को अनेक शारीरिक रोगों के साथ-साथ पागलपन जैसा मानसिक रोग भी हो जाता है।

गुस्सा, उदासी, चिन्ता, घृणादि भाव हमारी त्वचा पर गहरा असर डालते हैं। जिस समय हमें क्रोध आता है उस समय शरीर में एक ऐसे रस का संचार होने लगता है जो चेहरे की तरफ के रक्त संचार को रोकता है, इसके कारण त्वचा का रंग पीला या विवर्ण हो जाता है। अधिक क्रोध आने पर चेहरे पर झुर्रियाँ जल्दी पड़ जाती हैं। खुश-संतोषी रहने पर चेहरे पर लाली और चमक रहती है, इस प्रकार चिंता या तनाव से केवल शारीरिक क्षति ही नहीं होती, बल्कि आन्तरिक व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त हो जाती है। फलतः पाचन क्रिया पर भी दुष्प्रभाव पड़ता है और पाचन क्रिया बिगड़ने लगती है। अन्ततः हृदय की अन्यान्य बीमारियाँ पैदा हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाती हैं। इस प्रकार मानसिक दूषित भाव शरीर, मन, आत्मा और पर के प्रति भी दूषित प्रभाव डालते हैं। इन दूषित भावों से केवल इहलोक नहीं, किन्तु परलोक में भी अनेक कष्टों को सहना पड़ता है।

(३) उभय प्रायश्चित्त- अपने अपराध की गुरु के सामने आलोचना करके गुरु की साक्षीपूर्वक अपराध से निवृत्त होना- उभय नाम का प्रायश्चित्त है।[६]

शंका- यह उभय प्रायश्चित्त कहाँ पर होता है?

समाधान- यह दुःस्वप्न देखने आदि अवसरों पर होता है।[७]

(४) विवेक प्रायश्चित्त- गण, गच्छ, द्रव्य और क्षेत्र आदि से अलग करना- विवेक नाम का प्रायश्चित्त है।[८]

शंका- यह विवेक प्रायश्चित्त कहाँ पर होता है?

समाधान- जिस दोष के होने से उसका निराकरण नहीं किया जा सकता, उस दोष के होने पर यह प्रायश्चित्त होता है।

उभय शब्द की अनुवृत्ति होने से उपवास आदि के साथ जो गच्छादि के त्याग का विधान किया जाता है, उसका अन्तर्भाव इसी विवेक प्रायश्चित्त में हो जाता है।[९]

(५) काय-ममत्व त्याग (कायोत्सर्ग) प्रायश्चित्त- काया का उत्सर्ग करके ध्यानपूर्वक एक मुहूर्त, एक दिन, पक्ष और महीना आदि काल तक स्थित रहना व्युत्सर्ग नाम का प्रायश्चित्त है। यहाँ पर भी द्विसंयोग आदि की अपेक्षा भंगों की उत्पत्ति कहनी चाहिए। क्योंकि उभय शब्द देशामर्षक है।[१०]

शंका- यह व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त किसके होता है?

समाधान- जिसने अपराध किया है, किन्तु जो अपने विमल ज्ञान से नौ पदार्थों को समझता है, वज्र संहनन वाला है, शीतपात और आताप को सहन करने में समर्थ है तथा सामान्य रूप से शूर है, ऐसे साधु के होता है।[११]

काय संबंधी ममत्व, मोह, राग, सुखासीनता का त्याग करना कायोत्सर्ग है। शरीर से ममत्वादि त्याग करने से मन स्थिर हो जाता है। मन स्थिरता से ध्यान-साधन सुचारु रूप से होता है। उस ध्यान से पूर्वोपार्जित पापकर्म धुल जाते हैं। अतः कायोत्सर्ग कर्म नष्ट करने के लिए साधनभूत है।

समस्त शरीर को सहज रूप से ढीला छोड़कर एवं मानसिक संकल्प-विकल्प आदि को त्यागकर कायोत्सर्ग करने से शारीरिक तनाव दूर हो जाता है। केवल शारीरिक तनाव ही दूर नहीं होता है, बल्कि उसके साथ-साथ मानसिक ग्रंथियाँ ढीली हो जाती हैं। इससे मन तनाव मुक्त होकर स्वच्छ निर्मल हो जाता है। इससे पापकर्म भी धुल जाते हैं।

वर्तमान मनोवैज्ञानिक चिकित्सक भी मानसिक रोग दूर करने के लिए कायोत्सर्ग, शरीर-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिथिलीकरण, शवासन आदि करवाते हैं, जिससे मानसिक तनाव के साथ-साथ शारीरिक तनाव भी दूर होते हैं और रोगी अनेक रोगों से मुक्त हो जाता है। इतना ही नहीं, कायोत्सर्ग से एक नवचेतना, नवस्फूर्ति मन में जाग उठती है।

कायोत्सर्ग की अवस्था में शरीर स्थिर एवं मन निस्पंद होने से पूर्वोपार्जित दोष जो कि अचेतन में सुप्त-रूप में संचित रहता है, वह अवसर प्राप्त करके सचेतन मन में उभर उठता है। जिससे दोषी को अपना दोष स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता है। तब वह साधक अपने दोष को दोष जानकर उससे अपनी आत्मिक क्षति पहचान कर दोषों का त्याग करता है। कुछ देशों में अपराधी जब अपराध लेकर न्यायाधीश के पास जाता है तब न्यायाधीश उसको शांत चित्त से बैठने के लिए कहता है। वह जब कुछ समय स्थिर होकर बैठता है तब उसका तनाव, ईर्ष्या-द्वेष कम होने से अपनी भूल को स्वीकार कर लेता है। इस तरह कुछ अपराधी बिना प्रतिवाद किए ही समाधान पाकर वापस भी चले जाते हैं।

मनुष्य आवेश और तनाव की स्थिति में गलत सोच लेता है। उस स्थिति में वह कभी भी सही निर्णय नहीं ले पाता है। यदि यह बात पूर्णतः समझ ली जाती है तो वकीलों और जजों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। तनाव के कारण ही व्यक्ति न्यायालय की शरण में जाता है। वहाँ जाने वाला भी पछताता है और नहीं जाने वाला भी पछताता है। वह बूर का लड्डू है। उसे न खाने वाला भी ललचाता है और खाने वाला भी पछताता है। यदि आवेश की स्थिति समाप्त हो जाए तो न्यायालय में चलने वाले ७० प्रतिशत मुकदमे वैसे ही समाप्त हो जाते हैं। आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं-

''मैंने सुना है कि पश्चिम जर्मनी में एक प्रयोग किया जा रहा है। जो व्यक्ति क्रिमिनल केस लेकर आता है, उसे ५-६ घंटे बिठाया जाता है। फिर उससे पूछताछ की जाती है। निष्कर्ष के रूप में उन्होंने बताया कि ७० प्रतिशत व्यक्ति तो बिना शिकायत किए ही लौट जाते हैं, क्योंकि वे आवेश के वशीभूत होकर न्यायालय में आए थे। आवेश मिटा और वे शांत हो गए। (कैसे सोचें? -आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. २१)

(६) तप (कायेन्द्रिय दमन) प्रायश्चित्त- उपवास, आचाम्ल, निर्विकृति, दिवस के पूर्वार्द्ध में एकाशन आदि तप के रूप में प्रायश्चित्त दिये जाते हैं। यहाँ द्विसंयोगी भंगों की योजना कर लेनी चाहिए।[१२]

शंका- यह प्रायश्चित्त किसे दिया जाता है?

समाधान- जिसकी इन्द्रियाँ तीव्र हैं, जो जवान है, बलवान् है और सशक्त है, ऐसे अपराधी साधु को दिया जाता है।[१३]

(७) संयमकाल ह्रास (छेद) प्रायश्चित्त- एक दिन, एक पक्ष, एक मास, एक ऋतु, एक अयन और एक वर्ष आदि की दीक्षा पर्याय का छेद कर इच्छित पर्याय से नीचे की भूमिका में स्थापित करना छेद नाम का प्रायश्चित्त है।[१४]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शंका-यह प्रायश्चित्त किसे दिया जाता है?

समाधान- जिसने अपराध किया है तथा जो उपवास आदि करने में समर्थ है, सब प्रकार से बलवान् है, सब प्रकार से शूर है और अभिमानी है, ऐसे साधु को दिया जाता है।[१५]

(८) (सम्पूर्ण संयम काल विच्छेद) प्रायश्चित्त- समस्त पर्याय का विच्छेद कर पुनः दीक्षा देना मूल नाम का प्रायश्चित्त है।[१६]

शंका- यह मूल प्रायश्चित्त किसे दिया जाता है?

समाधान- अपरिमित अपराध करने वाला जो साधु पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील और स्वच्छन्द आदि होकर कुमार्ग में स्थित है, उसे दिया जाता है।[१७]

(९) परिहार (अनवस्थाप्य और पाराञ्चिक) प्रायश्चित्त- राजा के विरुद्ध आचरण करने पर जो प्रायश्चित्त दिये जाते हैं, वह परिहार प्रायश्चित्त कहलाता है। परिहार दो प्रकार का है- अनवस्थाप्य और पाराञ्चिक। उनमें से अनवस्थाप्य परिहार का जघन्य काल ६ महीना और उत्कृष्ट काल १२ वर्ष है। वह कायभूमि से दूर रहकर विहार करता है, प्रतिवन्दना से रहित होता है,गुरु के सिवाय अन्य सब साधुओं के साथ मौन का नियम रखता है तथा उपवास, आचाम्ल, दिन के पूर्वार्द्ध में एकासन और निर्विकृति आदि तपों द्वारा शरीर के रस, रुधिर और माँस को शोषित करता है।

पाराञ्चिक तप भी इसी प्रकार होता है। किन्तु इसे साधर्मी पुरुषों से रहित क्षेत्र में आचरण करना चाहिये। इसमें उत्कृष्ट रूप से छह मास के उपवास का भी उपदेश दिया गया है। ये दोनों ही प्रकार के प्रायश्चित्त राजा के विरुद्ध आचरण करने पर और दस पूर्वों को धारण करने वाले आचार्य करते हैं।[१८]

(१०) श्रद्धान प्रायश्चित्त- मिथ्यात्व को प्राप्त होकर स्थित हुए जीव के महाव्रतों को स्वीकार कर आप्त, आगम और पदार्थों का श्रद्धान करने पर श्रद्धान नाम का प्रायश्चित्त होता है।[१९]

संदर्भ

निम्नांकित सभी संदर्भ षट्खण्डागम, पुस्तक १३, खण्ड ५, कर्मानुयोगद्वार, सूत्र २६ की धवला टीका, पृष्ठ ५९ से ६३ तक से उद्धृत हैं-

१. कयावराहेण ससंवेयणिव्वेएण सगावराहणिरायणट्ठं जमणुट्ठाणं कीरदि तप्पायच्छित्तं णाम तवोकम्मं।

२. तं च पायच्छित्तमालोयणा-प्पडिक्कमण-उभय-विवेग -विउसग्ग-तव-च्छेद-मूल-परिहार-सद्दहणभेदेण दसविहं।

३. गुरूणमपरिस्सवाणं सुदरहस्साणं वीयरायाणं तिरयणे मेरुव्व थिराणे सगदोसणिवेयणमालोयणा णाम पायच्छित्तं।

४. गुरूणमालोयणाए विणा ससंवेग-णिव्वेयस्स पुणो ण करेमि त्ति जमवराहादो णियत्तणं पडिक्कमणं णाम पायच्छित्तं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. एदं कत्थ होदि? अप्पावराहे गुरूहि विणा वट्टमाणम्हि होदि।

६. सगावराहं गुरुणमालोचिय गुरुसक्खिया अवराहादो पडिणियत्ती उभयं णाम पायच्छित्तं।

७. एदं कत्थ होदि? दुस्सुमिणदंसणादिसु।

८. गण-गच्छ-दव्व खेत्तादीहिंतो ओसारणं विवेगो णाम पायच्छित्तं।

९. एदं कत्थं होदि? जम्हि संते अणियत्तदोसो सो तम्हि होदि। उववासादीहि सह गच्छादिचागविहाणमेत्थेव णिवददि, उभयसद्दाणुवुत्तीदो।

१०. झाणेण सह कायमुज्झिदूण मुहूत्त-दिवस-पक्ख-मासादिकालमच्छणं विउस्सग्गो णाम पायच्छित्तं। एत्थ वि दुसंजोगादीहि भंगुप्पत्ती वत्तव्वा; उभय-सद्दस्स देसामासियत्तादो।

११. सो कस्स होदि? कयावराहस्स णाणेण दिट्ठणवट्ठस्स वज्जसंघडणस्स सीदवादादवसहस्सओघसूरस्स साहुस्स होदि।

१२. खवणायंबिल-णिव्वियडि-पुरिमंडलेयट्ठणाणि तवो णाम। एत्थ दुसंजोगा जोजेयव्वा ।

१३. एदं कस्स होदि? तिव्विंदियस्स जोव्वणभरत्थस्स बलवंतस्स सत्तसहायस्स कयावराहस्स होदि।

१४. दिवस-पक्ख-मास-उदु-अयण-संवच्छरादिपरियायं छेत्तूण इच्छिद- परियायादो हेट्ठिमभूमीए ठवणं छेदोणाम पायछित्तं।

१५. एदं कस्स होदि? उववासादिखमस्स ओघबलस्स ओघसूरस्स गव्वियस्स कयावराहस्स साहुस्स होदि।

१६. सव्वं परियायमवहारिय पुणो दीक्खणं मूलं णाम पायच्छित्तं।

१७. एदं कस्स होदि? अवरिमिय अवराहस्स पासत्थोसण्ण-कुसील-सच्छंदादि-उव्वट्ठट्ठियस्स होदि।

१८. परिहारो दुविहो अणवट्ठओ परंचिओ चेदि। तत्थ अणवट्ठओ जहण्णेण छम्मास कालो उक्कस्सेण बारसवासपेरंतो। कायभूमीदो परदो चेव कयविहरो पडिवंदणविहिदो गुरुवदिरित्तासेसजणेसु कयमोणाभिग्गहो खवणायंबिलपुरिमड्ढेयट्ठणणिव्वियदीहि सोसिय-रसरूहिर-मांसो होदि। जो सो पारंचिओ सो एवंविहो चेव होदि, किन्तु साधम्मियवज्जियक्खेत्ते समाचरेयव्वो। एत्थ उक्कस्सेण छम्मासक्खवणं पि उवइट्ठं। एदाणि दो वि पायच्छित्ताणि णरिंदविरुद्धाचरिदे आइरियाणं णव-दसपुव्वहराणं होदि।

१९. मिच्छत्तं गंतूण ट्ठियस्स महव्वयाणि घेत्तूण अत्तागम-पयत्थसद्दहणा चेव (सद्दहणं) पायच्छित्तं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org